आधुनिक परिवेश में सांस्कृतिक मूल्य

डॉ. किरण शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डी.ए.वी. कॉलेज फॉर गर्ल्ज़,
यमुनानगर ।

सारांश

किसी राष्ट्र अथवा जाति का वैशिष्ट्य उसकी संस्कृति में निहित रहता है। संस्कृति किसी जाति अथवा देष की उस चिन्तन–परम्परा का नाम है, जिसका विकास प्राकृतिक परिवेष की अनुकूलता में होता है। प्रत्येक संस्कृति के कुछ विषेष मूल्य होते हैं। जिनमें समाज विषेष की जीवन सम्बन्धी मान्यताएं सुरक्षित रहती हैं। इन्हें ही सांस्कृतिक मूल्य कहते हैं। इन मूल्यों का उद्देष्य समाज में सुव्यवस्था बनाए रखना है। यह प्रष्न स्वाभाविक ही है कि क्या सांस्कृतिक मूल्य स्थिर एवं अपरिवर्तनषील होते है? इसके साथ ही एक अन्य प्रष्न भी प्रासांगिक है कि क्या मूल्य समाज के द्वारा प्रदत्त ही होते हैं और व्यक्ति उन्हें स्वीकार भर करता है। अथवा वह स्वयं मूल्यों का विकास करता है। ये दोनों प्रष्न मूल्यों की विकास–प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। संस्कृति का मानव वृत्तियों से भी घनिष्ठ संबंध होता है अतः अनेक सांस्कृतिक मूल्य स्थायी होते हैं।

व्यक्ति का जो आचरण एवं कार्य समाज में व्यापक प्रशंसा पा जाता है, वही क्रमशः मूल्यों का आधार बन जाता है । समाज में आदर पाने की कामना से ऐसे मूल्यों को अपनाने की प्रेरणा मिलती है । इस प्रकार मूल्य व्यक्ति के लिए परितोष तथा प्रेरणा एवं समाज के लिए व्यवस्था का आधार होते हैं ।

नवीन युग की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में कुछ मूल्य अपनी प्रासंगिकता खो बैठते हैं, कुछ संशोधित रूप में मान्यता प्राप्त करते हैं तो कतिपय नए मूल्य भी विकसित हो जाते हैं जिससे एक नई मूल्य–व्यवस्था जन्म लेती है । नवीन मूल्यों के विकास में व्यक्ति की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती है । अधिकांश नवीनता पुरातन के संशोधन में ही रही है ।

आधुनिक परिवेश में सांस्कृतिक मूल्य

मानव सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी माना गया है मानवेतर प्राणी जहां रहन–सहन, खान–पान, निवास आदि के सम्बन्ध में अभी अपनी आदिम अवस्था में ही है, वहीं मानव ने विभिन्न क्षेत्रों में अत्यधिक उन्नति कर ली है। जीवन को आदिम व्यवस्था से विकसित करके आधुनिक रूप तक लाने में मनुष्य ने अपने बुद्धि–बल एवम् अनथक प्रयत्नों का आश्रय लिया है। अपने प्रयत्नों से उसे कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं, जिनसे वह मनचाहे ढंग से जीवन व्यतीत कर सकता है। मौटे तौर पर संस्कृति का संबंध मनुष्य की इसी विकसित जीवन–पद्धति के साथ है किन्तु आज सामान्यतः जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है – वह धीरे–धीरे विकसित हुआ है।

'संस्कृति शब्द सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न हुआ है यह परिष्कृत अथवा परिमार्जित करने के भाव का सूचक है। संस्कृति का अर्थ संस्कृत की हुई, सुधारी हुई अथवा सुसंस्कार संपन्न अवस्था है। मनुष्य की भूषण युक्त सम्यक् कृति या चेष्टाएं ही संस्कृति है।

संस्कृति शब्द का प्रयोग वैदिक काल से होता आ रहा है। यजुर्वेद में संस्कृति को 'विद्या सुषिक्षाजनित नीति' कहकर इसे जगत के लिए सुखदायक माना गया है। संस्कृति का यह अर्थ किसी–ना–किसी रूप में आज भी प्रचलित है। आज हिन्दी में आंग्ल भाषा के शब्द 'कल्चर' शब्द के पर्याय रूप में प्रचलित है।

सर्वप्रथम कल्चर को आधुनिक अर्थ के निकट प्रयुक्त करने का श्रेय समकालीन विचारकों को है। वास्तव में तो संस्कृति का क्षेत्र समग्र मानव जीवन ही है। मौटे तौर पर हम कह सकते हैं कि संस्कृति वह है जो मानव समाज में तो है किन्तु जिसका अन्य सामाजिक प्राणियों में अभाव है। इसमें वाणी, ज्ञान, विष्वास, रीति, रिवाज कला, आदर्ष, नियम इत्यादि जीवन से सम्बन्धित सभी चीजें आ जाती हैं। संस्कृति का संबंध मानव के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के जीवन से है। संस्कृति का कार्य वास्तव में मानव–जीवन को सुन्दर, कल्याणमय, सुरक्षित अएवं चिरस्थायी बनाना है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि – संस्कृति विषिष्ट मानव–समूह की समग्र गतिविधियों को समाहित किए होती है जिनका विकास भौतिक परिवेष के अनुरूप होता है। यह एक सामाजिक भाव है जो निरन्तर विकास मान रहता है । संस्कृति जीवन का समग्र तरीका है जो स्वतः सम्पूर्ण है चाहे यह तरीका अन्य किसी तरीके से कितना ही भिन्न क्यों न हो। इसका उद्देष्य मानव–कल्याण है। यह मानवता का सर्वांग विकास है।

सभ्यता को संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग माना गया है सभ्यता और संस्कृति दोनों मानव की उपलब्धियां हैं, लेकिन एक का संबंध व्यवहार पक्ष से है और दूसरे का चिन्तन पक्ष से। सभ्यता संस्कृति के विकास का साधन है। अतः दोनों में साधन–साध्य संबंध है। सभ्यता और संस्कृति का विभेद यदि कोई है भी तो वह मौलिक नहीं है। भेद का प्रधान कारण शब्दों का व्युत्पत्यर्थ है, उनका प्रयोग नहीं।

'मूल्य' वस्तुतः अर्थ शास्त्र का शब्द है। यहाँ पर यदि हम मूल्यों की बात करें तो हिन्दी में अंग्रेजी के वैल्यू शब्द के पर्याय–रूप में प्रयुक्त होता है। अर्थ शास्त्र में मानव की किसी वस्तु की अभिलाषा या इच्छापूर्ति के बदले धन–त्याग की तत्परता से उसका मूल्य निर्धारित होता है। अतः मूल्य किसी वस्तु के प्रति मनुष्य के आकर्षण और वस्तु की वांछनीयता का परिचायक है। दूसरे शब्दों में, मूल्य किसी वस्तु की उस क्षमता पर निर्भर है जो मनुष्य की किसी इच्छा अथवा आवष्यकता की पूर्ति करती है। अर्थ शास्त्र से यह शब्द साहित्य तथा ज्ञान–विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में प्रचलित हुआ। आज हम नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक वैज्ञानिक, दार्षनिक आदि अनेक प्रकार के मूल्यों की चर्चा करते हैं। मूल्य का यह अर्थ विस्तार पिछली कुछ दशाब्दियों में ही हुआ।

यद्यपि प्राचीन भारत में मूल्यों का स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध नहीं होता किन्तु जीवन की पूरी मूल्य–व्यवस्था पर सर्वांग विवेचन भारतीय मनीषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही कर लिया था। भारत में जीवन के चार पुरूषार्थ माने गए हैं, उन्हें ही मूल्य कहा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चार पुरूषार्थों में मानव–जीवन के

समस्त पक्ष समाहित हो जाते हैं। इनमें लौकिक जीवन के अलावा पारलौकिक जीवन के स्पष्ट संकेत द्वारा इस मूल्य व्यवस्था की सर्वांगता का ज्ञान होता है। इन चार पुरूषार्थों में से प्रथम तीन को साधन (मूल्य) और मोक्ष को साध्य (मूल्य) कहा जाता है।

धर्म, धारयातीति धर्मः में स्पष्ट है कि इसका संबंध एक ओर व्यक्ति के विकास से है और दूसरी ओर समाज की व्यवस्था से । समाज के विकास एवम् सामाजिक हित के सम्पादन की दृष्टि से धर्म बहुत महत्वपूर्ण है। अन्ततः धर्म मानवीय चेतना का परिष्कार कर उसे जीवन के उच्चतम सोपान तक पहुँचाने का साधन बनता है।

अर्थ में धन तथा अन्य वे सभी साधन समाविष्ट हो जाते हैं जिनसे मनुष्य की भौतिक आवष्यकताओं की पूर्ति होती है। इस प्रकार भौतिकतावादी तक के लिए भी अर्थ एक साधन मूल्य ही है। जीवन–यापन के साथ धर्म सम्पादन के लिए भी अर्थ की महत्ता स्वयं सिद्ध है। इसी सन्दर्भ में महाभारत में धनहीन को मृत कहा गया है। मनु ने अर्थ संचय के विषय में जो निर्देष दिए है, उनमें स्पष्ट है कि अर्थ उतना ही संचय करना चाहिए जितना जीवन–यापन के लिए अनिवार्य हो अर्थोपार्जन के साधन ऐसे हों जिनसे न दूसरे प्राणियों को कष्ट हो और न स्वयं को। वह अर्थ त्याज्य है जो स्वाध्याय में बाधक होता हो। भाव यह है कि अर्थ का अर्जन एवं व्यय धर्मानूकूल हो, अधर्म युक्त अर्थ विनाष का कारण बनता है। अर्थ की साधन रूपता में तो सन्देह का अवकाश नहीं, किन्तु यह साध्य नहीं बन सकता ।

'काम' जीवन की सभी कामनाओं का प्रतीक है। यह जीवन का उपभोग पक्ष है। कुछ विद्वान इसे पाषविक वृत्ति से संयुक्त कर निकृष्ट जीवन मूल्य मानते हैं जबकि अन्य विचारक मानव–सृष्टि के मूल में काम को स्वीकार करके इसकी सर्वोच्च महत्ता प्रतिपादित करते हैं। भावना की अभिव्यक्ति, वासना एवम् सौन्दर्य चेतना की तृप्ति के सन्दर्भ में काम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है – 'काम मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा उसकी भावना और सौन्दर्य प्रियता निर्दिष्ट करता है'। काम–तृप्ति का साधन उपलब्ध होने पर भी

मनुष्य स्वभावतया ही सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होकर भावुक हो जाता है। सृष्टि का अस्तित्व काम पर आधारित है, अतः काम का उपभोग पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु काम में निर्बाध विलास अथवा वासना के लिए स्थान नहीं है। काम का श्रेष्ठ रूप वही है जब वह धर्माश्रित या धर्मानुमोदित हो ।

मोक्ष को अन्तिम एवम् चरम मूल्य माना गया है। चूंकि मोक्ष की सिद्धि किसी अन्य उद्देष्य के लिए नहीं की जाती, यह अपना उद्देष्य आप है। इसलिए यह साध्य मूल्य है। मोक्ष से तात्पर्य है छुटकारा या मुक्ति। वास्तव में हृदय–स्थित अज्ञान का नाष होने पर ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है बस यही मोक्ष है मोक्ष चरम मूल्य है और उसे प्राप्त करने के लिए शेष जीवन–मूल्य साधन ही हैं।

मूल्य पर आधुनिक चिन्तन का प्रारंभ आधुनिक परिवेष में होता है। आधुनिक परिवेष में विज्ञान की अक्षमता का संकेत करते हुए कहा है कि जीवन के कुछ अनिवार्य विष्वास ईष्वर, स्वतन्त्रता, अमरता ऐसे हैं जिन्हें विज्ञान के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी जीवन चलाने के लिए उन्हें सत्य मानना आवष्यक है। मूल्य का यह अर्थ विकास पिछले कुछ दषकों में ही हुआ है।

मूल्य आधुनिक चिन्तन का अत्यधिक प्रचलित शब्द हैं। प्रत्येक विचारक अपने क्षेत्र के अनुसार ही मूल्य को परिभाषित करता है, फलतः मूल्य की कोई सर्वमान्य एवं व्यापक परिभाषा नहीं बन पाई । व्यक्ति स्वयं जितने मूल्यों का विकास करता है, उससे कहीं अधिक मूल्य समाज द्वारा उस पर आरोपित कर दिए जाते है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्य वे निकष कहे जा सकते हैं जिनके आधार पर समूह या समाज व्यक्तियों, पद्धतियों, उद्देष्यों तथा अन्य सामाजिक सांस्कृतिक विषयों की महत्व–परीक्षा करता है।"

समाज में मूल्य अवस्थित रहते हैं अथवा मूल्यों का अपना अस्तित्व होता है, इसका भाव यह नहीं कि वे निरपेक्ष होते हैं। मूल्य निष्चय ही सापेक्ष होते है, किन्तु यह सापेक्षता व्यक्ति की रूचि–विरूचि की स्वभावगत विलक्षणता से सम्बद्ध न होकर मानव की सामान्य एवम मोटे रूप में सार्वजनीन इच्छाओं से संलग्न होती है। हां,

मूल्य मानव–मानव में एक ओर जाति, धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि के अन्तर तथा दूसरी ओर काल एवं युग के अन्तर के भी सापेक्ष होते हैं क्योंकि विभिन्न संस्कृतियों एवं सभ्यताओं से सम्पर्क एवम् नये वातावरण को अपनाने की आवष्यकता के कारण मनुष्य के मान एवम् आदर्ष विभिन्न युगों में भिन्न होते है। मूल्य को मापना असंभव है मूल्य एवम् उपयोगिता में अन्तर का आधार भी यही हैद्व कि उपयोगिता तो वस्तु में रहती है, जबकि मूल्य मनुष्य के मानस में स्थित रहता है। मूल्य का सम्बन्ध कामना से है। मानव के कर्मों की श्रेष्ठता की कसौटी मूल्य कहलाती है।

मूल्य के समानान्तर तथ्य, आदर्ष, मान–प्रतिमान, मान्यता आदि शब्द प्रचलित हैं। **तथ्य** और मूल्य की भिन्नता– अभिन्नता को लेकर बड़ा विवाद रहा है। **आदर्ष** और मूल्य में भी पर्याप्त समानता है। आदर्ष एक बिन्दु विषेष है, स्थिति–विशेष है। **मान्यता** में विचार अथवा वस्तु की स्वीकृति का भाव है। मूल्य मान्य होकर ही मानदण्ड बनते है। मूल्य को मान्यता की पूर्ण विकसित अवस्था भी कह सकते हैं। चाहे जो भी समानता या भिन्नता हो हम कह सकते हैं कि मूल्य एक व्यापक शब्द है जो सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि सन्दर्भों में विभिन्न अर्थ–छायाओं का व्यंजक है।

सांस्कृतिक मूल्यों के स्वरूप एवम् उनकी विकास प्रक्रिया के प्रष्न मूलतः संस्कृति के तात्विक और ऐतिहासिक पक्ष से सम्बन्द्ध हैं । चूंकि संस्कृति समाज की विभिन्न क्षेत्रों की उपलब्धियों का नाम है। सांस्कृतिक मूल्य ऐसी मान्यताएं है जो व्यक्ति तथा समूह के मंगल के लिए अनिवार्य होती हैं । इस प्रकार सांस्कृतिक मूल्यों के संबंध में दो तथ्य है–पहला उनकी विकास–प्रक्रिया और दूसरे उनका उद्देष्य। एक विषेष अवधि तक समाज अपने भौगोलिक परिवेष के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव से अपनी आकांक्षाओं एवम् आवष्यकताओं के अनुरूप जिस विषिष्ट जीवन–पद्धति का विकास कर लेता है, उन्हीं का चिन्तन व्यवस्थित और सैद्धान्तिक निरूपण सांस्कृतिक मूल्यों के रूप में प्रति फलित होता है।

मूल्य–विघटन के संबंध में एक महत्वपूर्ण प्रष्न उठता है कि क्या मूल्य सामयिक ही होते है, जो विघटित हो जाते हैं अथवा कुछ मूल्य ऐसे भी हैं जो देषकाल की सीमा लांघकर स्थिर बने रहते हैं। वास्तव में प्रत्येक देष एवम् युग में जो मूल्य व्यवस्था व्याप्त रहती है उसे संस्कृति का एक विषिष्ट सोपान कह सकते हैं। उनमें से कुछ मूल्य तो ऐसे होते हैं, जो समाज की दीर्ध परम्परा से अनुस्यूत रहते हैं। भारत के सन्दर्भ में आध्यात्मिकता, समन्वय, अहिंसा, शान्ति आदि मूल्य ऐसे ही हैं। इन्हें स्थायी मूल्य कहा जा सकता है । इनमें परिवर्तन या तो बिल्कुल नहीं होता अथवा स्वल्प–सा होता है जिसमें इनका मूलस्वरूप सुरक्षित रहता है। दूसरे वे मूल्य होते हैं जिन्हें हम सामाजिक मूल्य कह सकते हैं। ये युग की आवष्यकता के अनुरूप विकसित होते हैं और प्रायः युग के साथ ही तिरोहित हो जाते हैं। कुछ मूल्य शाष्वत मूल्यों के साथ जुड़ जाते हैं इस प्रकार निरन्तर मूल्यों का विकास होता है। मूल्यों की टकराहट के काल–खण्ड को संक्रान्तिकाल कहते हैं।

संस्कृति निरन्तर विकासषील रहती है। विकास की प्रक्रिया में कुछ अवस्थाएं स्थिर होती हैं और कुछ परिवर्तनषील। स्थिर अवस्था वह युग है जिसमें एक स्वतः पूर्ण व्यवस्था समाज की आवष्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होती है। समाज में व्यवहार के स्तर पर जो असंगतियां अथवा अपूर्णताएं आ जाती हैं वे मूल्य सम्बन्धी ही होती हैं। जितना समय पुरानी और नई व्यवस्था, परम्परा एवम् प्रयोग के टकराव की स्थिति रहती है उसे ही हम संक्रान्ति काल कहते हैं। इस काल में विगत अपनी सार्थकता खो रहा होता है, और आगत नया अर्थ प्राप्त करता है।

वास्तव में संक्रान्ति काल प्रष्नों का काल होता है। जो ढर्रा चला आता है, उसकी उपयेागिता को लेकर सन्देह व्यक्त किया जाता है, प्रष्न उठाए जाते हैं। जैसा कि स्वाभाविक है उन सन्देहों की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ विवाद उठते हैं। मूल्यों की उपयोगिता एवम् प्रासांगिकता पर विवाद के दौरान तीन पक्ष उभर कर सामने आते हैं– पुराने मूल्यों को यथावत् स्वीकार करके नवीन का तिरस्कार करने वाला पक्ष, पुराने मूल्यों पर आस्था रखकर उन्हें युगानुरूप व्याख्यायित करने वाला पक्ष तथा

पुराने का सर्वथा परित्याग करके नए मूल्यों के विकास का समर्थक पक्ष। पहले दो पक्षों के समर्थक मूलतः परम्परावादी है और तीसरा नवीनतावादी। अगर ध्यान से देखा जाए तो ये तीनों मत एकांगी प्रतीत होते हैं। तीनों ही नए के विकास में योगदान देते हैं। सर्वथा नवीन और कुछ पुराना यथावत् अथवा संषोधित सभी का सूक्ष्म मिश्रण ही एक भिन्न मूल्य–व्यवस्था बनाते हैं और उसे औपचारिक रूप से ही नवीन कहा जा सकता है। नए का यही और इतना ही अर्थ है। जिस कालावधि में नए के विकास की यह प्रक्रिया घटित होती है, वही संक्रान्ति काल है। संक्रान्ति में विघटन अनिवार्य है। विघटन एक प्रक्रिया है और संक्रान्ति काल का एक आयाम। यद्यपि संक्रान्तिकाल इतिहास का एक ऐसा अध्याय है जिस की पुनरावृत्ति होती रहती है, किन्तु आज संक्रान्ति काल का वह रूप नहीं रहा जो पूर्ववर्ती युगों में रहता था। पहले मूल्य लम्बे अरसे तक स्थिर रहते थे । परिवेश के परिवर्तन की गति मन्थर थी । आज विज्ञान के कारण संसार में बडी तेजी से परिवर्तन आ रहा है, और उसी के समानान्तर जीवन भी बदल रहा है। आधुनिकता के विकास से मानव में स्वचेतनता की भावना, अपनी पृथक एवं महत्वपूर्ण ईकाई की जागरूकता, तेजी से उभरने लगी है। पीढ़ियों का संघर्ष तीव्रतर होता गया है। फलतः छोटे–छोटे आयाम एवम् विस्तार वाले युगों की पृथक सत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी है । दो युगों के मध्य अन्तराल इतना कम रह गया है कि एक संक्रान्तिकाल समाप्त होते ही दूसरा संक्रान्ति काल प्रारंभ हो जाता है। कहा जाने लगा कि वर्तमान काल वस्तुतः संक्रान्ति का नहीं वरन् संक्रान्ति–दर–संक्रान्ति का युग है। पुराने मूल्य नये परिप्रेक्ष्य में व्यर्थ सिद्ध हो जाने पर ठुकरा दिए जाते हैं और तत्पष्चात नए मूल्यों की उद्भावना होती है समाजवादी मूल्य व्यवस्था की धूमिलता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इन्हीं कारणों से आधुनिक कालीन संक्रान्ति को जटिल कहा जाता है।

आधुनिक काल में यह प्रष्न भी उभर कर सामने आ रहा है कि क्या संक्रान्ति काल के अपने कोई मूल्य नहीं होते? संक्रान्ति काल की पहली सीढ़ी अस्वीकार है।

आधुनिक भाव बोध के संदर्भ में अस्वीकृति अथवा निषेध को मूल्य मानने की प्रवृति ही आुधनिक काल में दिखाई पड़ती है।

आधुनिकता के मूल में आधुनिक शब्द है जो पुरातन से भिन्नता प्रकट करता है। विचार के स्तर पर आुधनिक का प्रारंभिक विवेचन मुख्यतः आुधनिकवाद के रूप में हुआ है। आधुनिकवाद में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भावना तो समाविष्ट है ही, युगीन प्रगति के अनुरूप आचरण एवमं मानवीय चिंतन के प्रति आस्था भी आधुनिकवाद के आवष्यक लक्षण है। समस्त प्राचीन का तिरस्कार, मर्यादा या नैतिकता और सामाजिकता के सभी बन्धनों की अस्वीकृति को ही आधुनिकता के लक्षणों के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। "आधुनिकता का सवाल इतना सरल भी नहीं है कि इसे किसी तरह के सूत्र में बांधा जा सके या इसे किसी निश्चित परिभाषा में जकड़ा जा सके ।"

प्रत्येक काल की अपनी आधुनिकता होती है। आधुनिकता एक प्रक्रिया है कोई अंतिम परिणति नहीं, दृष्टि है स्वयं दर्षन नहीं। और समकालीनता उस दृष्टि विकास की प्रेरक परिस्थिति है। किन्तु आज आधुनिकता का सम्बन्ध प्रायः वर्तमान युग से ही जोड़ा जाता है। जब मूल्य के विघटन का प्रष्न आता है तो आधुनिकता की चर्चा आज के सन्दर्भ में ही प्रासांगिक होगी। मूल्य–विघटन के सन्दर्भ मे आधुनिकता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज की आधुनिकता में विज्ञान के प्रभाव से व्यक्ति का परिवार और समाज से नाता बदला है। नागरीय परिवेष में जो औद्योगिकरण का परिणाम है मानव में अकेलेपन की भावना जगाई है। श्रद्धा और विष्वास के स्थान पर तर्क और बौद्धिकता ने स्थान ले लिया है। विज्ञान ने दुनिया को इतना छोटा कर दिया है कि राष्ट्र के प्रति भी मानव का दृष्टिकोण बदल दिया है। परिवेष के प्रति निरन्तर सचेतना से पुराने मूल्यों पर पुनर्विचार करके या तो उन्हे पूर्णतः अस्वीकार कर दिया है या उन्हें संषोधित रूप में अपनाया गया है। लेकिन यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि आधुनिकता केवल विघटन, ध्वंस या निराषा व अवसाद के चित्रण नहीं है अपितु आषा और नव–निर्माण भी आधुनिकता के ही अन्तर्गत है।

आधुनिकता अपने सही अर्थ में उस विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से उपजती है जो व्यक्ति को वास्तविक युग बोध प्रदान करने के साथ–साथ अधिक दायित्वषील, सक्रिय और मानवीय बनाता है। इस प्रकार आधुनिकता के दो पक्ष स्पष्ट होते हैं, एक में रूढ़ि का विघटन और दूसरे में परम्परा के संषोधन तथा नये मूल्यों को स्वीकारना है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिकता में मूल्य विघटन की ही नहीं, मूल्य विकास की संभावना निहित रहती है। आधुनिक मानव की चिंतन–प्रक्रिया पर भी विज्ञान ने गहरा प्रभाव डाला है। आस्था और श्रद्धा के स्थान पर तर्क और बुद्धि की प्रतिष्ठा से ही परम्परागत मूल्यों पर प्रष्न–चिन्ह लगा है, किन्तु इस तथ्य का एक दूसरा पहलू भी है । वैज्ञानिक चिन्तन ने देष की जो दूरियाँ कम कर दी है उससे मानव–मानव में अंतर घटा है। जिससे कई पुराने मूल्यों को ही नए आयाम मिले हैं। जो सहयोग छोटे से ग्राम या समाज तक सीमित था, अब विष्वव्यापी बनता जा रहा है। जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयतावाद पर अधिक बल दिया जाने लगा है। युद्ध पहले से अधिक गर्हित ठहराया जाने लगा है। समता भी अधिक महत्वपूर्ण मूल्य हो गया है। इसीलिए यह कहना उचित नहीं जान पड़ता है कि नये मूल्यों का विकास नहीं हुआ किन्तु इतना अवष्य है कि कोई नया मूल्य इतना व्यापक नहीं हो सका कि पूरी मूल्य व्यवस्था दे सके। अधिकांष नवीनता पुरातन के संषोधन में ही रही है।

अन्त में केवल इतना
युग पक्षी ही आदर्ष, मान्य है पूरा
वह एक पक्ष से बंधु सदैव अधूरा।

सहायकग्रंथ

ताराचंद हारीत– दयमंती (1957)
डा0 देवराज–भारतीय संस्कृति (1960)
डा0 प्रसन्न कुमार आचार्या–भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता
डा0 रमेष कुंतल मेघ–आधुनिक बोध और आधुनिकी
परिशोध 17 अक्तूबर, 1972, पृ. 3